

शिक्षा में समुदाय की भागीदारी – एक आलोचना

□ पदमा वेलासकर

अनुवाद - अजय कुमार सिंह

यह लेख वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के भारतीय समाज, विशेषकर गरीब वंचित तबकों पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों को चिन्हित करने से शुरु होता है। भारत में शिक्षा के सार्वजनिकरण और निजीकरण के उपक्रमों पर भी विदेशी ऋण और अनुदान तथा उदारवादी प्रवृत्तियों ने निर्णायक प्रभाव डाला है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने वित्त पोषित शिक्षा प्रसार के नीतिगत ढांचों में सामुदायिक सहभागिता पर बहुत जोर दिया है। इन नीतियों में 'समुदाय' की एक धारणा परिकल्पित कर ली गयी है जिस का समुदाय की वास्तविकता और पदानुक्रमिक संरचना से कोई संबंध नहीं है। समुदाय के इस वास्तविक स्वरूप से टकराये बिना सत्ता तंत्र द्वारा सामुदायिक सहभागिता हासिल करने की तयशुदा नियंत्रित रणनीति जमीनी स्तर पर लागू कर दी जाती है जिससे शैक्षिक प्रसार और इसकी प्रभावी उपलब्धि में कोई ठोस नतीजे नहीं मिलते। यह आलेख - शिक्षा में समुदाय की भागीदारी के वर्तमान चरित्र से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को खड़ा करता है।

यह आलेख शिक्षा में समुदाय की भागीदारी की अवधारणा और व्यवहार पर एक आलोचनात्मक समझ प्रस्तुत करता है। इसमें शामिल मुद्दों और प्रश्नों पर एक सटीक समझ बनाने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि इन्हें एक वृहत्तर संदर्भ में देखा और समझा जाये। इसलिए शुरुआत हम समकालीन संदर्भ में सुधार और परिवर्तन के एक संक्षिप्त जिक्र के साथ करेंगे, ताकि नये शिक्षायी समझ और व्यवहार के पैकेज में समुदाय की भागीदारी के वर्तमान जोर को उसके हिस्से के रूप में समझा जा सके। इसके बाद उन हालिया व्यवहारों और विमर्श का एक आलोचनात्मक परीक्षण किया जायेगा जो कि समुदाय केन्द्रित विकास की समझ पर सामान्य तौर से तथा शिक्षा पर खासतौर पर किये गये हैं। इसका समापक हिस्सा एक आलोचना है, जो समुदाय की भागीदारी तथा प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण में इसकी संभावित भूमिका की प्रकृति और उद्देश्य से जुड़े हुए कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा मुद्दों को खड़ा करती है।

1. हालिया शिक्षायी सुधारों का संदर्भ और सूची

हम लोग तीव्र आर्थिक परिवर्तनों के एक ऐसे काल में रह रहे हैं जिनका भारतीय समाज के वृहत्तर हिस्सों पर खासा दुष्प्रभाव पड़ा है - विशेषकर गरीब वर्ग पर, महिलाओं पर तथा इसके दलित व आदिवासी हिस्से पर। समकालीन अर्थ-व्यवस्था को पूंजी और आय के ध्रुवीकरण से, गरीबी की जड़ता से, ग्रामीण व शहरी बेरोजगारी की खतरनाक वृद्धि से, उच्च व तकनीकी शिक्षा प्राप्त एवं पढ़े-लिखे बेरोजगारों की बढ़ती श्रेणियों से, घटते रोजगार के अवसरों से तथा छँटनी से उत्पन्न कार्यक्षेत्र संबंधी अनिश्चितताओं

से चिन्हित किया जा सकता है। हमारी सामाजिक वास्तविकता जातिगत, श्रेणीगत एवं लैंगिक विभेदों तथा असमानताओं एवं सभी प्रकार के नृजातीय विद्वेष व हिंसा से भरपूर है जो कि हमारे जनतांत्रिक मूल्यों के बार-बार प्रलापों से मेल नहीं खाती है। हम एक ऐसी, राजनैतिक वास्तविकता को जी रहे हैं जिसमें कि उग्र हिन्दू कट्टरपंथी ताकतों की बढ़ती एक विशिष्ट प्रकार की सांस्कृतिक-असहिष्णुता की ओर झुक रही है जिसकी दिशा सांस्कृतिक पतन की ओर है।

दरअसल आज भारत, इतिहास के एक विचित्र नाजुक पड़ाव पर खड़ा है। इसका संवैधानिक दर्शन तथा स्वतंत्रता के मूल्यों के इर्द-गिर्द रचे गये उद्देश्य-समानता, सामाजिक न्याय, बहुलतावाद, धर्मनिरपेक्षता इत्यादि-दांव पर लगे हुए हैं। इस पूरे परिदृश्य में, शिक्षा में बुनियादी बदलाव होते जा रहे हैं।

वैश्विक भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था एवं उदारीकरण की शक्तिशाली ताकतों के प्रभाव में राष्ट्रीय विकास के उद्देश्य एक गहरे परिवर्तन से गुजर चुके हैं (ग्रीन, 1997)। नागरिक निर्माण की जगह कौशल निर्माण तथा राष्ट्र निर्माण की जगह राष्ट्रीय आर्थिक स्पर्धा ने ले ली है। नव अभिजात्यों के बीच उदारीकरण को न टालने के संदर्भ में बनी एकमतता ने आर्थिक नीतियों को बदला है। शिक्षा संबंधी महत्वपूर्ण समस्याएं और विवाद एक बड़े परिवर्तन से गुजर चुके हैं। शिक्षा की भूमिका की परिधि निर्धारित हुई है। यह अब मुख्यतः व्यक्ति विशेष की उन्नति का साधन है न कि सामूहिक आर्थिक विकास का। समान अवसर के न्यूनतम प्रतीक से भी दूर हटते हुए यह सवाल उठता है कि बुनियादी शिक्षा को आर्थिक

सहायता कौन करेगा, इसे आर्थिक विकास के नवीन दर्शन से कैसे जोड़ा जाये तथा राज्य के लिए किस प्रकार इसे संभव खर्च में लाया जाये ?

स्पष्टतः शिक्षा के नये साधनवादी आदर्शों के समक्ष उदार, सर्वकल्याणार्थ जन शिक्षा का कोई स्थान नहीं रह गया है। इसके विपरीत इसने उन शिक्षायी सुधारों को न्यायसंगत बनाया एवं बढ़ावा दिया है जो कि सर्वकल्याण के मूल्यों को सीधा खतरा हैं। इनमें हैं -

- निजीकरण अर्थात् निजी क्षेत्रों द्वारा वित्तीय समर्थन से शिक्षा का प्रसार।
- संकीर्ण ज्ञान अर्थात् केवल अर्थव्यवस्था जनित मांग की पूर्ति हेतु कौशल आधारित शिक्षा।
- शिक्षा पर बजट में कमी करना तथा आर्थिक कार्यवाहियों के पक्ष में शिक्षकों के स्थान व तनख्वाह में कटौती।
- श्रेष्ठता/उत्कर्षता की संकीर्ण बाजारू परिभाषाएं एवं विमर्श।
- शिक्षा संबंधी बुनियादी वचनबद्धता की पूर्ति हेतु विदेशी ऋण पर निर्भरता।
- शिक्षा को सुरक्षा का एक हिस्सा बनाया जाना, तथा
- गैर सरकारी संगठनों की बड़े पैमाने पर राजकीय शैक्षिक क्रियाकलापों में सहायता या प्रतिस्थापन में भागीदारी होना।

कुल मिलाकर हम देखते हैं कि एक नई श्रेणी के पेशेवर विशेषज्ञों द्वारा रचित शिक्षायी नीति, शिक्षा को एक मूल्य, एक सार्वजनिक शुभ, तथा उदार परिवर्तनों के एक औजार से एक बाजारू वस्तु, या प्रभुत्व के प्रतीक, या बाजार में कीमत लगाये जाने योग्य एक वस्तु में तब्दील कर रही है। शिक्षायी बदलाव के लिए हाल ही में जारी किया गया अम्बानी-बिड़ला का नीतिगत प्रारूप इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। यह प्रारूप बड़ी कठोरता से मानव को बतौर पूंजी समझे जाने की वकालत करता है तथा इसे सीधे-सीधे तकनीकी आविष्कारों और सूचना तकनीक से जोड़ता है जिसे अब भारतीय आर्थिक विकास में नींव के पत्थर की तरह देखा जा रहा है।

अब जबकि सभी यह उम्मीद कर रहे हैं कि शिक्षा नई और पुरानी चुनौतियों पर असरकारी प्रभाव डाले। तब बजट में कमी, नये शिक्षकों की नियुक्तियों पर प्रतिबन्ध तथा ठेके के शिक्षकों पर बढ़ते अवलम्बन की वजह से अच्छी शिक्षा और संसाधन चिन्ताजनक स्थिति में पहुंच चुके हैं। इन सबके बावजूद उपेक्षित क्षेत्र तथा लोगों के बीच गुणवत्ता की शर्त पर कुछ संख्यात्मक परिवर्तन को अवश्य महसूस किया जा सकता है। शिक्षा के निजीकरण की नीति ने इसके व्यवसायीकरण को बढ़ाया है तथा यह इसे उपभोग की वस्तु की श्रेणी में रखती जा रही है। व्यावसायिक

शिक्षाविदों के आगमन से अब शिक्षा की रण-भूमि सभी तरह के व्यावसायिक योद्धाओं के लिए खुल चुकी है। शिक्षा-अर्जन तथा शिक्षा के विस्तार में अब धन-शक्ति केन्द्रीय भूमिका अदा कर रही है। गरीब एक अच्छी सी जिन्दगी के लिए घिसटते हुए संघर्ष कर रहे हैं। शहरी, मुफसिल तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबों के लिए निजी स्कूलों की बाढ़ आयी हुई है लेकिन इन तक केवल थोड़े से लोगों की पहुंच है। निम्न आर्थिक-सामाजिक स्तर की वजह से इन स्कूलों में दी जा रही शिक्षा का स्तर भी काफी खराब है। निचोड़ लेने वाली कीमत अदा करने तथा अन्य कई त्याग करने के बावजूद गरीबों को इस पूरी प्रक्रिया में कुछ भी हाथ नहीं लगता है। वे किसी महत्वपूर्ण व्यवसाय को हासिल करने में असफल रहते हैं तथा वे सामाजिक तौर पर निम्न स्तर पर बने रहते हैं। इसी बीच शिक्षा के सार्वभौमिकरण की आलाप शिक्षा के भीतर बढ़ते हुए कुलीनतावाद की जमीनी सच्चाई में छुप सी गई है।

यह शिक्षा का एक नया राजनैतिक-अर्थशास्त्र तथा एक नई सामाजिक वास्तविकता है। इस संदर्भ को समझने के लिए “राज्य-एन.जी.ओ.” द्वारा हाल में की गई कोशिशों और रणनीतियों की पड़ताल करनी होगी। सार्वभौमिकरण अलग-अलग शिक्षायी कलाकारों के लिए अलग-अलग मायने रखता है। बावजूद इसके इन सब में परम्परागत रूप से कुछ सर्वनिष्ठ बातें हैं - मसलन उपलब्धता, स्कूल में पहुंच, नामांकन, स्कूल में टिकना तथा उपलब्धि इत्यादि। सीखने की गुणवत्ता को भी एक मुख्य सरोकार की तरह व्याख्यायित किया जाता रहा है।

मेरी नजर में विषय-वस्तु तथा जनतांत्रिक मूल्यों, खास तौर से एक विशेष राजनीतिक संदर्भ में, जहां संवैधानिक आदर्शों पर लगातार हमले हो रहे हैं, का मसला भी अगर अधिक नहीं तो कम से कम ऊपर जिक्र किए गए मुद्दों के बराबर का महत्व रखता है। आज इन सबके बावजूद कि ‘सबके लिए शिक्षा’ के प्रति एक खुला सरोकार दिखता है, सार्वभौमिकरण - स्कूलों में पहुंच तथा एक अपर्याप्त किस्म के न्यूनतम अधिगम स्तर के रूप में परिभाषित होता जा रहा है। इस संदर्भ में, शिक्षा में समुदाय की भागीदारी का मायना तथा उद्देश्य क्या हो सकते हैं ?

2. शिक्षा में समुदाय की भागीदारी : संज्ञाओं का स्पष्टीकरण तथा ऐजेण्डे का निर्धारण

शिक्षा के सार्वभौमिकरण के समकालीन प्रयासों में समुदाय की विशिष्ट भूमिका का परीक्षण, स्थितियों की समग्रता तथा नयी शिक्षायी समझों एवं रणनीतियों के बीच के जुड़ाव की जांच की मांग करता है। सैद्धांतिक तौर पर समुदाय की भागीदारी का स्वरूप क्या बना है ? क्या पूर्व मान्यतायें हैं तथा जमीनी स्तर पर क्या हो रहा है ? इसका असर क्या है ?

पर इन सबसे पहले यह सवाल उभरता है कि तेजी से बदलती हुई सामाजिक संरचना में समुदाय का अर्थ क्या है ? एक केन्द्रीय प्रश्न होने के बावजूद अभी तक इस पर चर्चा की जरूरत नहीं महसूस की गयी । इसे परिभाषित या विश्लेषित करने की बजाए इसे परिकल्पित कर लिया गया है । समाजशास्त्र की शास्त्रीय अवधारणाओं में समुदाय का जिक्र एक ऐसे समूह के रूप में है जो अपने उद्देश्यों तथा जरूरतों को परस्पर मिलकर समग्र रूप से निपटाते हैं । इसके सदस्यों का पूरा जीवन यहां गुजरता है - वे यहां अपने तमाम सामाजिक संबंध बनाते और महसूस करते हैं जबकि इसके बाहर उनकी जिन्दगी की साझी जरूरतें काफी कम होती हैं । इस मायने में गांव शहर तथा जिला एक तरह का समुदाय बनाते हैं । एक समुदाय का नाम पाने के लिए यह जरूरी है कि समूह से जुड़ा हुआ स्थान (उनके जीने की जगह) अन्य जगहों से अलग हो । समूह से जुड़े हुए स्थान का कुछ मतलब हो - उस दायरे में उनके उद्देश्य पूरे होते हों । भारत को लेकर बतौर एक समुदाय-रूपी समाज की संकल्पना की जड़ें औपनिवेशिक काल तक फैली हैं जो कि भारतीय गांवों के पुरवाईये आदर्शों और समूह के जीवन से प्रभावित हैं ।

उत्तर-स्वाधीनताकालीन विकास के विमर्श में समुदाय एक केन्द्रीय अवधारणा रही है । जबकि उस समय “समुदाय” पहली बार जनतांत्रिक तौर से चुनी गई सरकार के लिए एक नया ‘परिकल्पित समुदाय’ था । योजनाकारों और नीति-निर्माताओं ने सामुदायिक विकास योजनाओं के जरिये, जहां समुदाय की अवधारणा गांव पर लागू होती थी, कृषि आधारित अर्थतंत्र तथा ग्रामीण समाज की पुनर्रचना की परिकल्पना की थी । इस बात की योजना तैयार की गई कि एक नियोजित सामाजिक व आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया के जरिये ग्रामीण परिदृश्य में, इनके सपनों का एक ‘परिकल्पित समुदाय’ उभर सके । सहयोग तथा परस्परता के साथ-साथ बंटवारा और पदानुक्रम वह सिद्धांत और आदर्श थे जिनके ताने-बाने से भारतीय गांव परम्परागत रूप से संगठित हुये थे । इस नये ग्रामीण समुदाय में, विभाजक सिद्धांतों को और ज्यादा कल्याणकारी जुड़ाव एवं एकता के पक्ष में निकाल बाहर किया जाना था जो कि जाति, वर्ग तथा धार्मिक अलगावों से परे होता ।

हम सब इस कष्टकारी सत्य से परिचित हैं कि ‘परिकल्पित समुदाय’ कभी भी वास्तविक नहीं हुआ । इसके विपरीत मौजूदा असंगत संरचना और मजबूत हुई । स्थापित कुलीनों ने लोक संस्थाओं पर जड़कनपूर्वक नियंत्रण स्थापित कर लिया तथा इनको एक पुनर्निर्माण और संभागी ऐजेंसियों के तौर पर निष्क्रिय कर दिया । सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में अन्तर्निहित पूर्वमान्यताओं के विपरीत, गांव में पदानुक्रम को बनाने वाले विभाजक किस्म के तत्व आगे आए हैं और इन्होंने प्रभुत्वशाली तथा अधीनस्थ भागों

के बीच सहूलियत और फायदे के द्वन्द्व को बल प्रदान किया है । तथा अन्तर्विरोधों को पहले से और ज्यादा तीखा किया है । ऐसी स्थिति में वहां कोई साझा प्रयास, कोई संगठन नहीं रह पाता है, कोई संयुक्त ऐजेन्डा नहीं रह पाता है, सर्व-शुभ हेतु कोई उद्देश्य नहीं रह पाता जो कि विकासात्मक प्रक्रिया को निर्देशित करे । तब वहां की ग्रामीण सामाजिक संरचना के भीतर समानता तथा न्याय के लिए कोई भी नया मानक स्थापित नहीं हो पाता है (फैन्कल, 1978) ।

कुल मिलाकर वहां कोई ऐसी राजनैतिक पुनर्परिभाषा बनती हुई नहीं दिखती है जो ग्रामीण समुदाय के जाति और गुट की संकीर्ण समझ के बाहर “गांव विशेष की” कोई ऐसी व्यापक श्रेणी सामने लाये जो अपनी एकता की सीमा को वहां तक विस्तार दे, जिसमें गरीब, नीची जाति तथा आदिवासी सब शामिल हो सकें । इसके विपरीत पुराने समूह आधारित मूल्य एवं एकता और खेतीहर समूह, कुटुम्ब, जाति के प्रति निष्ठा इत्यादि का बिखराव एवं क्षय होता जा रहा है । सबसे बुरा यह है कि वे एक ऐसी खण्डित राजनीति में समेट लिए गये हैं जो कि ताकतवरों की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति को और बढ़ाती है (वही 1978) ।

वैश्विक अर्थव्यवस्था द्वारा चलाये जा रहे “विकास” के प्रचलन के संदर्भ में पिछले दो दशकों में “समुदाय” की अवधारणा की एक जबरदस्त वापसी हुई है । एक बार फिर से “ग्रामीण समुदाय” को हस्तक्षेप के क्षेत्र के तौर पर चुना गया है । समुदाय के विकास में समुदाय की भागीदारी का एक बदलाव देखने को मिलता है । पहले की सामुदायिक-विकास की समझ और अब की भागीदारी वाले विकास में दृष्टि, आकार तथा दायरे के बीच कोई तुलना नहीं हो सकती है । समुदाय की भागीदारी की अवधारणा सामुदायिक-विकास की अवधारणा से काफी सिमटी और काफी कम महत्वाकांक्षा वाली है । प्रत्यक्षतः उद्देश्य यह है कि जो विकास से “बाहर रह” गये हैं उनको ऐसी एकीकृत योजनाओं, जो जनता को परिवर्तन का एजेण्ट मानती है, के जरिये इसमें शामिल करना है । विकेन्द्रीकरण पर नया सर्वसम्मत जोर स्पष्टतः अर्थतंत्र के संरचनात्मक समायोजन की प्रक्रिया से जुड़ा है । सरकार, वित्तीय एजेंसियां, वित्तदाताओं, नागरिक समाज के विभिन्न पात्र जैसे गैर सरकारी संगठन तथा विश्व बैंक जैसी बहुआयामी एजेंसियां और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन सब के सब का विकास के अपने पसन्दीदा मॉडल से बराबरी का लगाव है जो कि जनसहभागिता के जरिये चिर-स्थायी बन सकता है ।

सामुदायिक सहभागिता के स्वरूप और प्रकृति के दृष्टिकोण को लेकर एक बड़ा भ्रम है । यह कार्यक्रम में जनता की स्वैच्छिक भागीदारी जैसी सीमित संकल्पना से “अपने खुद के संगठन द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में संलग्नता” जैसे वृहत और अति

महत्वाकांक्षी संकल्पना या कार्यक्रम में “स्व संचालित गतिविधि” इत्यादि है। इसलिए भागीदारी का जो नक्शा उभर रहा है वह निष्क्रिय तथा/या सीमित भागीदारी से एक सक्रिय भागीदारी और स्वयं को गतिशील करने तक की समूची सीमा तक फैल चुका है (कुमार, 2002)। यह महत्वपूर्ण है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की समझ के विपरीत कोई ठोस प्रचलन और परम्परा समुदाय में अपने आप में न तो परिभाषित है न ही परिकल्पित है। दरअसल नये वैश्विक विमर्श में समुदाय की संज्ञा को संदिग्धता, स्वेच्छाचारिता, अनिश्चतता इत्यादि से चिन्हित किया जाता है। और यह विभिन्न प्रकार के संबंधित निजी हितों के एजेन्डों के लिहाज न ठीक बैठता है। बहुधा इसे एक ऐसे लक्षित समूह, जो कि कार्यक्रम निर्माताओं द्वारा पहले से ही परिभाषित कर दिये गये होते हैं, के लिए एक संक्षिप्त संज्ञा के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

शिक्षा में समुदाय की भागीदारी का उभरता हुआ विमर्श, जो कि “सभी के लिए शिक्षा” के नये वैश्विक शिक्षायी विमर्श का हिस्सा है, ने राज्य तथा गैर सरकारी संगठनों की शिक्षायी परियोजनाओं में अपने को अभिव्यक्त किया है। यह विकासशील देशों को वैश्वीकृत और उदारीकृत पूंजीवादी अर्थतंत्र के वृहत्तर दर्शन में शामिल करने के लिए शिक्षा के इस्तेमाल की आवश्यकता से प्रेरित है (कुमार, 2001)। 1990 की बिहार-शिक्षा परियोजना से शुरू होकर-स्कूल में पहुंच, नामांकन, स्कूल में ठहराव तथा उपलब्धि जैसे केन्द्रीय उद्देश्यों के साथ विदेशी सहायता के जरिये कई राज्य स्तरीय शिक्षायी परियोजनाओं की शुरुआत की गयी। मसलन राजस्थान की लोक जुंबिश और शिक्षाकर्मी परियोजना, आन्ध्रप्रदेश की प्राथमिक शिक्षा परियोजना इत्यादि। 1993 में एक व्यापक राष्ट्रीय कार्यक्रम के तौर पर डी.पी.ई.पी. (जिला प्राथमिक शिक्षा परियोजना) की शुरुआत की गयी जिसका दायरा बाद में देश के 271 जिलों तक बढ़ा। सार्वभौमिकरण का उद्देश्य, जो अभी भी असंभव सा दिखता है, को पूरा करने के लिए डी.पी.ई.पी. को हटा कर सर्व शिक्षा अभियान नामक नये मिशन की शुरुआत की गयी। बाहरी वित्त दाताओं की पहल पर राज्य ने विकेन्द्रीकरण और सूक्ष्म-योजना पर नई शिक्षायी नीति में काफी बल दिया है। अन्य विकासात्मक पहलों के साथ-साथ एकीकृत शिक्षायी पहल के लिए पंचायत व्यवस्था को एक मुख्य विकेन्द्रीकृत संरचना के तौर पर परिकल्पित किया गया (देखें संशोधित नीति का प्रारूप तथा शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्यान्वयन योजना, भारत सरकार, 1992)।

सामुदायिक सहभागिता, जो कि राज्य द्वारा चलाये जाने वाले कार्यक्रमों के केन्द्र में रही, में विभिन्नतायें थीं लेकिन ये उस भिन्न तरीके से परिभाषित नहीं थीं (रामचन्द्रन, 2001)। बुनियादी उद्देश्य समान दिखते थे : ‘समुदाय विशेष’ को प्राथमिक शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए तथा शिक्षा के प्रति धारणा को बदलने के लिए

प्रेरित तथा ऊर्जावान करना था। स्कूल तथा शिक्षक को स्थानीय समुदाय से मिलने वाले सहयोग को बढ़ाकर कार्यात्मक ढंग से परिभाषित किया गया, यह परिभाषा नामांकन में बढ़ोत्तरी से शुरू होकर बच्चों के स्कूल में टिकने तथा स्कूल के प्रबंधन और विकास तक जाती थी। भागीदारी को सशक्तिकरण की एक सुगठित प्रक्रिया के तौर पर समझा गया जो कि कार्यक्रमों के कार्यान्वयन और निरीक्षण तथा संसाधनों की भागीदारी के लिए निर्णय की प्रक्रिया और उसको प्रभावित करने में समुदाय को शामिल करेगी। समुदाय की ऊपर दो नई भूमिकायें आईं, पहली यह कि एक चलने वाले स्कूल की मांग करना तथा उसका प्रबंधन करना और दूसरी अपने बच्चों को उसका उपयोग करने के लिए प्रेरित करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक कार्यक्रम विशेष की विभिन्न रणनीतियों को इस प्रकार तैयार किया जाता है कि जन भागीदारी प्राप्त की जा सके। मसलन व्यावहारिक सहमति की अवधारणा तथा समुदाय के कार्यकर्ता को जोड़ना जिसमें समुदाय से शिक्षक लेना भी शामिल है जैसा कि शिक्षाकर्मी परियोजना में रहा तथा लोक जुम्बिश परियोजना का कार्य-चित्रण तथा निरीक्षण एवं समुदाय-समूह बनाने की रणनीतियां इत्यादि रहीं। डी.पी.ई.पी. के तहत समुदाय की लामबन्दी (सी.एम.) तथा सक्रिय समुदाय सहभागिता (सीपी) ये दोनों समुदाय सहभागिता के दो अविभक्त हिस्से थे। उम्मीद की जा रही थी कि समुदाय की लामबन्दी तथा सहभागिता की नियोजित प्रक्रिया द्वारा स्थानीय लोगों में गांव के स्कूल को लेकर एक मालिकाना भाव का विकास होगा तथा बदलाव में तेजी आयेगी। हालांकि समुदाय शब्द को अपरिभाषित छोड़ दिया गया था लेकिन वंचित ‘पिछड़े’ वर्गों पर एक घोषित सी दिलचस्पी थी। सामान्यतः कह सकते हैं कि सहभागिता की परिकल्पना प्रतिनिधि कार्यकारी निकायों-खासतौर से ग्राम शिक्षा समिति-की स्थापना के जरिये की गई। ग्राम शिक्षा समिति के साथ-साथ विशिष्ट कामों के लिए विशिष्ट लोगों के साथ विशिष्ट निकायों की रचना की गयी जैसे शिक्षक अभिभावक संघ, शिक्षक-माता संघ इत्यादि।

यह कहना मुश्किल है कि नवें दशकोत्तर काल की शिक्षायी परियोजनाओं का क्या असर रहा? क्योंकि इस क्षेत्र में सटीक मूल्यांकन और शोधों का घोर अभाव है। यह अपने आप में ठोस तरीके से उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रति विश्वासघात को दर्शाता है। जिस मात्रा में इसमें पैसा लगा उस हिसाब से सख्त मूल्यांकन लगभग नगण्य रहे। किसी भी परिघटना के तहत इस देश में ज्यादातर शिक्षायी शोध नीति आधारित रहे हैं तथा सरकारी संस्थाओं के नियमों के तहत आदेश मात्र को पूरा करने वाले रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर, नयी शिक्षायी पहलों पर किये गये अध्ययन काफी संकीर्ण रहे हैं। वे आमतौर पर कार्यक्रम के परिणामों के कुछ थोड़े से तथा सीमित पक्षों को विखण्डीकृत एवं अलग-थलग

करके आंकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि वे परिणामों का कोई संपूर्ण और सख्त विश्लेषण नहीं प्रस्तुत करते हैं। उनमें से ज्यादातर तथाकथित अध्ययन विवरण की प्रमुखता के साथ किये गये दस्तावेजीकरण भर होते हैं न कि कोई आलोचना। सफलता की ज्यादातर कहानियां पहुंच, प्रक्रिया, पहल और नवाचार को दैनिक रूप से दस्तावेजीकृत करती हैं जबकि इन कार्यक्रमों के केन्द्रीय उद्देश्य को पूरा करने वाले प्रमाणों पर दुःखद रूप से चुप रह जाती हैं।

इस सामान्य परिपाटी के परिणामस्वरूप, शिक्षा में सामुदायिक भागीदारी के विषय पर शायद ही कोई गहन चिन्तन व कार्य हुआ हो। शायद एक मात्र अपवाद है आचार्य, (2000) द्वारा किया गया पश्चिम बंगाल में शैक्षणिक विकेन्द्रीकरण पर एक वृहत् अध्ययन। यह शैक्षिक उत्थान, उपलब्धियों, संसाधन व पढ़ाने व सीखने संबंधी स्तर के सुधार में बड़े पैमाने पर पंचायत व्यवस्था की कमियों को उजागर करता है। यह अध्ययन बताता है कि राज्य में प्राथमिक शिक्षा में न केवल गुणवत्ता बल्कि संख्यात्मक रूप में भी बुरी तरह से गिरावट आयी है जो कि विकेन्द्रीकरण के चलते हुआ है। पंचायत फिर एक अपर्याप्त तथा भ्रष्ट राजनैतिक व्यवस्था को ही मदद करती प्रतीत होती है। दुःख की बात यह है कि प्राथमिक शिक्षक भी इस गिरे हुये तथा ताकत दर्शाने वाले खेल में सम्मिलित हैं।

डी.पी.ई.पी. के प्रयोग जिनका एड.सील.के 'तकनीकी सहयोग समूह' नयी दिल्ली के प्रकाशनों में वर्णन है, ज्यादातर यांत्रिक एवं उथले प्रतीत होते हैं। तथापि, जो तस्वीर हमारे समक्ष आती है वह अधिक आशाजनक नहीं है। जनसामान्य की भागीदारी तथा बच्चों के शामिल होने के संदर्भ में, जहां कुछ स्थानों पर सामुदायिक भागीदारी की रणनीति कारगर सिद्ध हुई है, वहीं वृहत् स्तर पर इसका प्रभाव नीति व कार्यक्रम रिपोर्टों में सोचे गये प्रभावों के निकट भी नहीं है। स्कूली शिक्षा, प्रवेश में, शिक्षा प्राप्त करने एवं बच्चों व शिक्षकों को प्रेरित करने संबंधी उपलब्धियों-सभी के संदर्भ में यह बात लागू होती है। सामान्यतः यह देखा गया है कि राज्य स्तरीय शिक्षा प्रशासन ने ग्रामीण स्तर पर कमेटियों के बनाने में, खासकर पंचायतों के अधीन, खासी सावधानी बरती है।

राजस्थान में सामुदायिक भागीदारी से जुड़े नये एवं उत्साह भरे शैक्षणिक प्रयोगों की समीक्षा और कल्पनाशील रणनीतियां, जिन्हें सोचा व किया गया, का एक बेहतर दस्तावेजीकरण किया गया है। उन्होंने समुदाय-स्थित शैक्षणिक अदाकारों, खासकर स्त्रियों को, इनमें शामिल कर आश्चर्यजनक उपलब्धियां हासिल कीं। इस समीक्षा ने कुछ उन मुश्किलों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जो कि सामुदायिक भागीदारी को दीर्घकालिक आवश्यकतापूरक भागीदारी तथा प्रेरणास्रोत बनाने में आती है। इसमें, यंत्रवतता व उदासीनता के शीघ्र ही घर करने के कारण

अच्छी प्रक्रियाओं का भी उल्टा परिणाम हो जाता है। सूत्र-स्वरूप, तथ्य एवं प्रक्रियाओं का स्थान ले लेते हैं। मोटे तौर पर, यह राजनैतिक व्यवस्थापरक नजरिया, सामुदायिक भागीदारी को एक गैर सरकारी संस्था की प्रक्रियाओं की तरह नीची नजर से देखता है। इस प्रकार, इसे सरकार द्वारा नियंत्रित कार्यक्रमों में इसका वांछित स्थान नहीं दिया जाता।

3. शिक्षा में समुदाय की भागीदारी : एक आलोचना

समुदाय की भागीदारी के उभरते परिदृश्य तथा सार्वभौमिकरण के प्रयासों की अनवरत असफलताओं के परिप्रेक्ष्य में कोई इसे शैक्षणिक रणनीतियों के तौर पर क्या समझ पाएगा? जरूरत है इसकी सीमाओं को समझने की, इसके सच्चे स्वरूप को उजागर करने की, तथा इसे उन वृहत् परिप्रेक्ष्यों से जोड़ने की जिनका कि इस आलेख की शुरूआत में वर्णन किया गया है।

वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में समुदाय की भागीदारी की आधारभूत सीमाएं हैं - असंदर्भीकृत और अरुचिकर ढंग से समुदाय की अवधारणा की व्याख्या एवं अनुप्रयोग उन वृहत्तर सामाजिक प्रक्रियाओं को समाजशास्त्रीय ढंग से समझने का कोई प्रयास नहीं होने दे रही हैं जिन्होंने ग्रामीण एवं शहरी परिप्रेक्ष्यों में समुदायों के विखंडीकरण का सूत्रपात किया। बढ़ती विषमताओं, असमानताओं, अस्थिरताओं, जरूरतों में परस्पर द्वन्द्व तथा आवागमन आदि ने सामुदायिक भावनाओं को ग्राम, जाति, वर्ग तथा कुटुम्ब के स्तर तक विखंडित किया। नृजातीय आदान-प्रदानों को केवल अपने जीने हेतु बनाए रखा गया। विच्छिन्न, साधनहीन तथा राजनैतिक रूप से अशक्त हमारे समाज के विभिन्न समूहों से समुदाय के रूप में बने रहने की सामर्थ्य एवं इच्छा होने की उम्मीद करना व्यर्थ है। नव राजनैतिक विमर्श में अभी भी बिना ध्यान दिये परस्पर भागीदारी व स्व-सहायता हेतु बने एक अस्पष्ट एवं अस्थिर "समुदाय" की बात की जा रही है। यह केवल मान लिया जाता है कि कोई ऐसा 'समुदाय विशेष', अपनी समानताओं व जरूरतों की एकरूपताओं के साथ विद्यमान है जिसे क्रियाशील किया जा सकता है। नये शैक्षिक कार्यक्रम किस प्रकार तथा किस हैसियत से 'समुदाय विशेष' को भागीदार के रूप में देख रहे हैं? समुदाय के संबंध में तथा शैक्षिक प्रचलनों के लिखित वर्णनों में इसे प्रायः निम्न में से एक या अधिक रूप में देखा जाता है -

- लक्ष्य (लाभान्वित होने वाला समूह)
- जागरूकता एवं वातावरण निर्माण के प्रतिनिधि के रूप में
- विकेन्द्रीकृत प्रबंधन के प्रतिनिधि के रूप में जिसे व्यवस्था, रखरखाव एवं देखभाल आदि की जिम्मेदारी दी गई है, तथा/ या
- बाहरी सहायता द्वारा चलाये जा रहे उच्चस्तरीय शैक्षिक कार्यों के एक मुकम्मल प्रतिनिधि के रूप में।

समुदायों के विघटनकारी स्वभाव तथा राज्य पर हावी राजनैतिक दबाव के चलते ऊपर लिखित सामुदायिक आदान-प्रदान कहां तक संभव हो पाता है ? ऊपर से यह जनता की भागीदारी तथा निर्णय का प्रतीक है पर दरअसल यह राज्य द्वारा प्राथमिक शिक्षा के बोझ का अस्पष्ट रूप से समुदाय पर स्थानान्तरण ही दर्शाता है । सरकार जनशिक्षा की जिम्मेवारी से तो हटना चाहती है परंतु शैक्षिक व्यवस्था पर नियंत्रण नहीं छोड़ना चाहती । अतः यह एक विसंगति ही है कि समुदाय की भागीदारी आखिरकार सरकारी नियन्त्रण का ही एक साधन बन कर रह गयी है । शिक्षा के निजीकरण एवं बाजारीकरण के परिप्रेक्ष्य में, सामुदायिक भागीदारी का दर्शन, जन शिक्षा के संदर्भ में सरकार के बदलते राजनैतिक दर्शन एवं क्रियाकलापों को ही न्यायसंगत बनाने में लगा प्रतीत होता है । ऐसा लगता है कि इसका उद्देश्य संघर्षरहित 'सामंजस्य बनाना' है - उनके साथ सामंजस्य एवं सहभागिता जिनकी वजह से सही उद्देश्यों को त्यागना पड़ता है या हानि होती है ।

शिक्षा में समुदाय की भागीदारी की स्थिति, ऊपर से नीचे की ओर आने वाला एक नियंत्रित प्रयास है जो कि एक आधिकारिक नीति का भाग है । बाहरी कोष द्वारा रचित 'थोपी गई' भागीदारी ही इसकी असली प्रकृति है । केवल एक विचार मात्र के स्तर पर ही यह स्वैच्छिक व स्वाभाविक कारवाई है । इसके अलावा, सामुदायिक भागीदारी, एक धीमीगति से चलने वाली प्रक्रिया है । जबकि राज्य/एन.जी.ओ. रणनीति के तहत इससे उम्मीद की जाती है कि यह एक तेज रफ्तार, समय सीमाबद्ध, उद्देश्य निहित व परिणाम परोक्ष तरीके से चले । समुदाय पर इसको नियंत्रित तरीके से गढ़ने वालों की इच्छाओं व क्रियाओं को पूरा करने का दबाव रहता है । यह क्या एक क्रियाशील या निष्क्रियतापूर्वक भागीदारी को प्रकट करता है ? कुछ अपवादों को छोड़कर इन कार्यक्रमों का उद्देश्य लोगों को दूसरों द्वारा सोचे एवं निर्धारित किये गये क्रियाकलापों में सम्मिलित करना ही रहा है । यही तथ्य भागीदारी की प्रकृति को सीमित कर इसे एक पदानुक्रम में ढालता है बजाय कि सर्वजन के हितों की प्राप्ति हेतु कार्य । वैसे भी इस प्रकार से लक्ष्य का निर्धारण सच्ची भागीदारी के मूल्यों के विपरीत जाता है । वृहत आयामों एवं पैमानों वाले सरकारी शिक्षा अभियानों के चलते भागीदारी स्वयं ही सरकार द्वारा परिभाषित उद्देश्य की प्राप्ति की तरफ हो जाती है जिसे कि, शुरू करना तथा बनाये रखना दोनों मुश्किल हैं । इस प्रकार की भागीदारी, कार्यक्रम समाप्ति के बाद खत्म हो जाती है जैसा कि चल रहे कार्यक्रमों द्वारा प्राप्त अनुभवों से अंदाजा होता है । अधिक समय तक चलने वाले व स्वपोषित होने जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर भले ही कितनी ही बात हो, अन्तिम उद्देश्यों की तरह वे कभी भी न प्राप्त होने वाले प्रतीत होते हैं । क्योंकि इस तरह के प्रयास उन समुदायों की शक्ति बढ़ाने की बजाय, उनके शक्तिविहीन समूहों का आपस में सहयोजन कराने की दिशा में होते रहे हैं ।

इस तरह की समुदाय की लामबन्दी की एक संकीर्ण समझ के चलते, आर्थिक व राजनैतिक असानताओं, पारस्परिक द्वन्द्व तथा निजी लाभ के संपूर्ण माहौल में हो रहे हानिकारक असर का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है । यह वृहत स्तर पर एकता व सामाजिक एकजुटता की भावना की कीमत पर, छोटे समुदायों में तीव्र आन्तरिक एकता को जन्म देती है । समुदायवाद को संभवतः वृहत्तर सामूहिक जनतांत्रिक भागीदारी के समस्तर एकता और भाईचारे को उदार बनाने की तथा सर्वजनहिताय के लिए संबंधों को गढ़ने की विपरीतगामी प्रक्रिया के तौर पर बढ़ावा दिया गया है । इसके अलावा गैर सरकारी प्रतिष्ठानों एवं विकास कार्यक्रमों की संख्या को देखते हुए सामुदायिक भागीदारी के प्रयासों के विघटन की भी संभावना बनती है । एक विशेष भूभागीय परिप्रेक्ष्य में, ऐसे तमाम प्रयासों को देखा जा सकता है जिनके विभिन्न उद्देश्य शिक्षा से संबंधित अथवा पृथक हैं । यह संभावना सामुदायिक भावना को और अधिक कमजोर बना सकती है ।

समुदाय की भागीदारी की इस आलोचना को, उन तमाम शैक्षिक प्रयासों, जो कि गंभीर उद्देश्यों एवं शिक्षा के सार्वभौमिकरण की वचनबद्धता के लिए अनवरत प्रयासरत हैं, को तुच्छ या कम करके आंकने हेतु नहीं देखा जाना चाहिए । तमाम शिक्षाविदों द्वारा इस कार्य की आपात जरूरत को हम समझ सकते हैं । फिर भी, हम उन तमाम आधारभूत आदर्शों में बदलाव से ध्यान नहीं हटा सकते जो कि समाज और शिक्षा में नकारात्मक बदलाव ला रहे हैं । ♦

संदर्भ

- आचार्य पोरामेश (2002) , एडुकेशन : पंचायत एण्ड डिसेन्ट्रलाइजेशन ई. पी. डब्लू, भाग 37, नं. 8, फरवरी-मार्च, पृ. 788-794.
- देशाई ए. आर. (1969) रूल सोसॉलाजी इन इंडिया, बम्बई : पापुलर एडसिल (2002) डीपीईपी रिसर्च आब्स्ट्रेक्ट इन प्राइमरी एडुकेशन (1999-2000) भाग- 2, दिल्ली : एडसिल
- फ्रैन्कल एफ (1978) द पालिटीकल ईकोनामी ऑफ डेवलपमेन्ट (1947-77)द ग्रेडुअल रिवोलुशन, एन. जे: प्रिस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस ।
- ग्रीन एण्डी (1997) एडुकेशन ग्लोबलाइजेशन एण्ड नेशन स्टेट, हैम्पशायर: मैकमिलन
- कुमार कृष्ण तथा अन्य (2001) डीपीईपी एण्ड प्राइमरी एडुकेशन: बीयॉन्ड द स्मोक स्क्रीन, ई.पी. डब्लू. भाग 36 नं. 7 फरवरी मार्च, पृ. 560-568
- रामचन्द्र वी. कम्युनिटी पार्टीसिपेशन इन प्राइमरी एडुकेशन, ई.पी.डब्लू. भाग 36, नं. 25, पृ. 2244-2250
- राय इन्द्रजीत (2002) कम्युनिटी आर्गेनाइजेशन एण्ड रिप्रेजेन्टेशन इम्प्लीकेशन फॉर डेवलपेन्ट ई.पी. डब्लू. - भाग 37 नं. 35, अगस्त, 3591-3595
- शोमेश कुमार (2002) मैथड फार कम्युनिटी पार्टीसिपेशन, दिल्ली: विस्तार प्रकाशन ।